आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रस की अवधारणा

अंजु बाला,
सहायक प्रवक्ता,
एफ॰सी॰ कॉलेज, हिसार।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी आलोचना के क्षेत्र में वैसा ही क्रांतिकारी परिवर्तन किया, जैसा प्रेमचंद ने कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में किया था। सबसे बड़ी बात उन्होंने साहित्य को रीतिवाद से मुक्त किया और सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक समीक्षा पद्धति का समन्वय करके रस जैसे व्यक्तिगत बिंदु को लोकमंगल की अवधारणा तक ले आए। इस लोकमंगल की अवधारणा में उन्होंने सामाजिक पक्ष को उद्घाटित किया। हिंदी समीक्षा में संस्कृत के मानदंडों और अंग्रेजी के प्रतिमानों का समन्वय कर एक अक्षुण्ण परम्परा का श्रीगणेश किया।

आचार्य और कवि मनीषियों ने रसानुभूति को शारीरिक, मानसिक व्यापार कहा है, 'काव्य बोध की दशा में शरीर की तंत्रिकाओं में इस प्रकार गैस्टाल्ट बन जाता है अर्थात अनुभव का शारीरिक, मानसिक आधार इतना संश्लिष्ट हो जाता है कि उसका बोध विश्लेषणात्मक नहीं होता।'' वस्तुतः रस को कलात्मक माध्यम से उद्भुत मानव हृदय के साथ जोड़ लेना ही काव्यकार का उद्देश्य होता है। इस संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने काव्य को भावयोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग कह कर उसकी सराहना की है और रस की लोकमंगल की अवधारणा को प्रतिपादित किया है। यह नयी बात है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लोकमंगल की अवधारणा को पारम्परिक रसवादी पद्धति में मिला कर एक नवीन परम्परा को आविर्भूत किया। गुलाटी जी लिखते है, ''रस का तात्पर्य श्रृंगार आदि भावों से नही है, वह लालित्य भावजन्य बोधक है, भले ही वह आनंद अभिनय द्वारा प्राप्त हो या काव्य पठन और श्रवण से।''[2] रस का अर्थ उस अनुभूति की ओर संकेत करता है जो पाठक के मानस पटल पर एक विशेष प्रभाव छोड़ता चलता है। यहाँ सरल अर्थ की बात की जाए तो यह आनंद का द्योतन करता है। इसका प्रभाव इतना है कि इसमें इन्द्रियाँ अपना काम करती है, मन की अपनी कल्पनाएं होती हैं, स्वप्न का नशा होता है, यह वह विराट अनुभव है जिसमें अपने आप में ब्रहमानंद की अनुभूति है। आरम्भ से ही जब से, कृति के सामाजिक लाभ के उद्देश्य से पहले की अपेक्षा दूसरे पक्ष को वरीयता दी और इस प्रकार सामाजिक संदर्भ में ही काव्य–निष्ठ रस की व्याख्या होने लगी।''[3] यहाँ प्रथम पक्ष कर्ता है यानि कि कृतिकार और दूसरा पक्ष आस्वाद पक्ष है यानि की पाठक। एक जगह तो रस को काव्य का आधार माना है। इसके लिए कहा जा सकता है कि काव्यविषय, व्यापार, विश्वसनीय तथा मानव जीवन सुलभ होता है। अतः कृतिकार का यह नैतिक दायित्व बन जाता है कि वह अपनी कृति के विषय को सामान्यता की ओर लेकर पाठक के समक्ष प्रस्तुत करे। यह भाव की नयी संम्प्रेषणीयता की बात है क्योंकि सम्प्रेषणीयता के गुण के कारण ही कृति सर्वसाधारण के लिए आस्वादन योग्य बन जाती है।

आत्मबोध और जगत बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी, पर हृदय ने उसकी कभी परवाह ना की, भावना, दोनों एक ही मान कर चलती रही।''[4] यह रस की आधारभूत बात है। रस

की सम्प्रदाय को लेकर बात की जाए तो रस सम्प्रदाय काव्य शास्त्र का महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है। भारत की भाषाओं के साहित्य की ही बात नहीं, बल्कि विश्व के सम्पूर्ण साहित्य में रस का अपना महत्व है। काव्य रस को सभी भाषाओं के साहित्य में ब्रहमानंद सहोदर, लोकोत्तर, स्वयं प्रकाश तथा चिन्मय बताया गया हैं। रस की व्युत्पति दो प्रकार से, 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' अर्थात जिसका आस्वाद किया जाए, वह रस है। दूसरे 'सरते इति रसः' अर्थात् जो प्रवाहित हो रहा है, वह रस है, से होती है। दोनो में स्वादप्रियता और द्रव्य का गुण विद्यमान है। लेकिन समझना चाहिए कि स्वादीयता और द्रव्य के कारण इसको फलों के समकक्ष का रस नहीं मान लेना चाहिए। डा॰ भगवान दास के शब्दों में, ''अनुभव के प्रति संवेदन, आस्वादन या रसन को रस इसी दृष्टि से कहा। रस क्योंकि आनंदमयी चेतना है। अतः अनुभूति में कटुता और माधुर्य भी संवेदन विधान के सामंजस्य के कारण ही हम अनिवार्यतः आनंदमय हो जाते है।''[5] इस संदर्भ मे प्रसिद्व लेखक डा॰ नगेद्र के कथन को देखा जा सकता है, ''काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब रूप होते हैं, एक तो इसी कारण उसकी कटुता अत्यंत क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते हैं, इसलिए अनिवार्यता सामंजस्य ही स्थापित हो जाता है क्योंकि काव्य भावना का अर्थ ही अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करता है और व्यवस्था में व्यवस्था ही आनंद है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य के अपने तत्त्व के रूप तत्वों के साथ समन्वित हो जाने के कारण आनंदप्रद बन जाते हैं।''[6] वस्तुतः रस काव्य का अनिवार्य तत्व बन गया, यही बात समाप्त नहीं हो जाती है। सभी ने काव्यशास्त्र के आचार्यो ने अभिनव को स्वीकार करते हुए इसको काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया है। इस दृष्टि से, ''जिस प्रकार आनंद मंगल के सिद्ध या आविभूर्त स्वरूप को लेकर सुख सौन्दर्यमय, माधुर्य सुषमा उल्लास, प्रेम व्यापार इत्यादि के उपभोग पक्ष की ओर आकर्षित होकर आनंद मंगल की साधना या प्रयत्न पक्ष को लेकर उत्साहित रहते है और अपना कीमती समय और धन की सहायता उस आनंद का उपभोग काव्य कृति के उपभोग का भागी बनते हैं। यही रसास्वादन की भावना पाठक भावना या कल्पना की समझ की परख बनती है। यह सामान्य सी बात नहीं, रस की बात है, इसीलिए परम्परावादी आचार्यो ने इसे अपने स्वरूप से प्रस्तुत किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस परम्परा को अलग ढंग से प्रस्तुत ही नहीं करते बल्कि रस परम्परा से रसवादी रूढ़ियों को भी हटाने की कोशिश करते है। वे परम्परागत रूप से इस परम्परा में रूढ़ियों को मानने को कतई राजी नहीं होते, वे केवल इस बात को मानते है कि कृतिकार कृति का सृजन लोकमंगल की भावना को लेकर करता है, इसलिए लोकमंगलवाद ही रस का मूल होना चाहिए। अतः उन्होंने रस की परम्परा को लोकमंगलवाद की धारा से जोड़कर पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया। ''कवि सौंदर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को प्रभावित भी करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्यो का मेल हो जाता है। यह मेल भी अपने आप हो जाया करता है, उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है।''[8] पाठक उसके इस भाव से अपने मन या बुद्धि के भाव से उसके साथ यानि की लेखक के साथ बह जाते हैं। यही रस है। इस रस की बात को लेकर आचार्यो ने बड़े–बड़े, मोटे ग्रंथ रच डाले। यह रस है भी इसी स्तर का, क्योंकि इस का संबंध अलौकिकता और अध्यात्म से भी है। शुक्ल जी भी इसी बात को जानते हैं कि अलौकिक और अध्यात्म आम का विषय नहीं हो सकते और ना ही आम पाठक इस प्रकार के विषय में रसास्वादन कर सकता है। अतः वह इस रस की भावभूमि को आम पाठक तक ले आए। उन्होंने स्वयं ही रस को लौकिक रूप में ही ग्रहण किया। उदाहरण के लिए उनका निबंध 'कविता क्या है?' को पढ़ा जा सकता है, जिसमें निबंध के आरम्भ में उन्होंने हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा बताया है। कहना संगत होगा कि जब व्यक्ति सांसारिक बंधनों से मुक्त नही होगा तब तक वह रसदशा को

प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए रसास्वादन का प्रथम सूत्र हृदय को विभिन्न प्रभावों से मुक्त कर एकाग्र करना अनिवार्य है। शुक्ल जी के इस कथन में उनकी मौलिकता ओर उनके मानदंड स्पष्ट लक्षित होते हैं, इस कथन में उन्होंने बुद्धि ओर हृदय का एकाकार किया है। ये हिंदी समीक्षा पद्धति को शुक्ल जी की नवीन देन है। इन्होंने अपनी प्रतिभा के आधार पर रस परम्परा से ऐसा संश्लेषण तैयार कर प्रस्तुत किया जिसका स्वरूप पारम्परिक रस परम्परा से भिन्न लोकमंगलवादी परम्परा के रूप में देखा जा सकता है। यह सत्य है, ''शक्ति काव्य में कहा है, वह हमारे प्रत्यन्न पक्ष के अन्तर्गत आ जाता है जिसमें लोक प्रकृति को परिचालित करने वाला प्रभाव होता है, जो पाठको और श्रोताओं के हृदय में स्थायी प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है''[9] इसमें एक साथ आधुनिकता के पारम्परिक स्वरूप के दर्शन हैं। वस्तुतः लोकमंगल की अनुपस्थिति में आचार्य शुक्ल जी रसदशा को अधिक महत्व नहीं देते।

नवीन सिद्धांतों की स्थापना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का योगदान सराहनीय है। उन्होंने काव्यानुभूति अर्थात् रस को लोकानुभूति से सर्वथा पृथक न मानकर इसे काव्यकार के उद्देश्य में समाहित किया। सरल रूप में कहा जा सकता है कि इन्होंने रस को शास्त्र का विषय न मानकर, उसकी संकुचित सीमा को विस्तृत किया और उसे लोकमंगल के विधान में समाहित किया। इतना ही नहीं बल्कि पूर्णतः अनुभूति का विषय निर्धारित किया। इस संदर्भ में श्री नामवर सिंह का कथन अवलोकनीय है, ''आचार्य शुक्ल रस के प्राचीन तत्व को लेकर बहुत आग्रहशील नहीं है।'' 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचिन्यवाद' तथा 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' जैसे निबंधों से स्पष्ट है कि उन्होंने अपने युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही सामाजिक मान्यताओं को आधार प्रदान किया।''[10] आचार्य रामचंद्र शुक्ल का प्रयत्न केवल युगानुरूप चेतना के अनुरूप रस की स्पष्ट व्याख्या करना था। इस प्रकार नवीन जीवन मूल्यों के प्रकाश में रस सिद्धांत काव्य की मूलता का द्योतन ही नहीं करता बल्कि कृतिकार के उद्देश्य को पाठक के समक्ष भी रखता है। इस प्रकार उन्होंने इस रस की अवस्था का विकास मौलिकता के साथ साधारणीकरण रूप में किया। इस संदर्भ में डॉ॰ नगेंद्र का मानना, ''शुक्ल जी ने संस्कृत काव्यशास्त्र का पुनराख्यान करके और पाश्चात्य आलोचना को सिद्धांत के अनुरूप ढालकर हिंदी के लिए एक समन्वित आलोचना स्वरूप तैयार किया।'' शुक्ल जी इस प्रकार स्वरूप सुधारवादी दृष्टिकोण की व्याख्या करते है। रस की लोकमंगल की अवधारणा में उनकी व्यावहारिक अवधारणा ही सक्रिय रही है। तुलसी उनके प्रिय है। इसलिए तुलसीकृत 'मानस' के लिए आदर्श की स्थापना जो लोक धर्म और लोकमंगल की प्रतिष्ठा करने वाला हिंदी साहित्य का प्रधान ग्रंथ है। उदाहरण के लिए राम का सम्पूर्ण जीवन लोकमंगल की प्रतिष्ठा से अनुप्राणित है। इस लोक मंगल और लोक धर्म में शुक्ल जी की रस दृष्टि उभर कर सामने आती है। कहना संगत होगा कि रस लोकमंगल के लिए ही कृतिकार द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है। यही कारण है कि साहित्य से प्रभावित होकर आम जनता ने अनेक आन्दोलनों में हिस्सा ही नहीं लिया बल्कि उनको सफल भी बनाया है।

लोक में फैली दुख की छाया को हटाने में ब्रहमा की आनंद कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्भुत प्रकार की मनोहारिता, कटुता में भी अपूर्ण माधुर्यता, प्रचंडता में भी गहरी आद्रर्ता लगी रहती है। विद्वानों का भी यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का एक सौन्दर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य नहीं रह सकता है।''[12] यही सौन्दर्य रस की उत्पत्ति का आधार है। शुक्ल जी इसी के प्रतिबद्ध होकर रसवाद की व्यावहारिक व्याख्या करते हैं। उदाहरण के लिए सूरदास के श्रृंगार और वात्सल्य की अत्यधिक प्रंशसा करने पर भी वे सूरदास को लोकरंजक कवि ही मानते हैं क्योंकि 'सूरसागर' में सूर कही पर भी, पूरे सवा लाख से ज्यादा पदों में लोकमंगल की भावना को लेकर संघर्षशील दिखाई

नहीं पड़ते। 'सूरसागर' शुक्ल को बहुत पसंद है परन्तु लोकमंगल की अनुपस्थिति उन्हें प्रभावित नहीं कर पाती। उनके अनुसार भारतेंदु लोकमंगल के कवि है और जायसी लोक रंजक के। इसके साथ रस ही लोक मंगल है। यही कृतिकार की प्रतिष्ठा और सामाजिक मानदंडों को भावभूमि प्रदान करता है।

वस्तुतः कहा जा सकता है कि शुक्ल की रस की अवधारणा में जो लोकमंगल है, वह विचारपरक है, व्यवस्थित है, सूक्ष्म और स्थूल होने के साथ संयत करने वाला है। उनका रसवाद अप्रीतम ही नहीं, वे रस परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य है। यही कारण है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल का सम्मान जितना रसवादी विद्धान करते है, इस दृष्टि से वे आधुनिक युग के प्रगतिशील समीक्षक ही नही, एक सिद्धांत घड़ने वाले भी हैं।

संदर्भ :–

1. डॉ॰ यश गुलाटी, साहित्यिक निबंध, पृ॰ 23
2. वही
3. वही
4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि पृ॰ 173
5. विचार और विवेचन, पृ॰ 7, 1886
6. वही
7. आचार्य रामच्रदं शुक्ल, चिंतामणि, पृ॰ 73
8. वही
9. वही
10. नामवर सिंह, शुक्ल और युग, पृ॰ 3
11. डॉ॰ नगेंद्र, अनुसंधान और आलोचना, पृ॰ 73
12. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि, पृ॰ 73